"राधावल्लभीय कृष्ण - भक्ति काव्य पर बौद्ध - धर्म का प्रभाव"

1. पृष्ठभूमि :

जिस समय चैतन्य तथा वल्लभाचार्य के अनुयायियों ने अपने साधना मार्ग का प्रचार प्रारम्भ किया, लगभग उसी समय अर्थात् सोलहवीं शती के पूर्वार्द्ध में राधा-कृष्ण की युगल उपासना को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए एक अन्य सम्प्रदाय भी उत्तरभारत (ब्रज-प्रदेश वृन्दावन आदि) में अस्तित्व में आ चुका था। जो "राधावल्लभ-सम्प्रदाय" के नाम से विख्यात हुआ। इस सम्प्रदाय के संस्थापक स्वामी हित हरिवंश थे। अतः इस सम्प्रदाय का एक अन्य नाम इन्हीं के नाम पर "हित सम्प्रदाय" भी पड़ा। हित हरिवंशजी का जन्म संवत् 1559 वि0 में हुआ। डॉ0 दीनदयालु गुप्त के अनुसार ये पहले माध्व-सम्प्रदायी थे बाद में ये निम्बार्क की कृष्णभक्ति का अनुसरण करने लगे।[1] परन्तु डॉ0 विजयेन्द्र स्नातक ने अपने ग्रन्थ "राधावल्लभ-सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य" में यह सिद्ध किया है कि यह सम्प्रदाय अपनी साधना पद्धति, विचार-भावना, सेवा-पूजा आदि में किसी सम्प्रदाय का अनुगत नहीं है।[2] सम्प्रदाय की साधना-पद्धति इसे एक स्वतन्त्र वैष्णव-सम्प्रदाय मानने के लिए बाध्य करती है।[3] हमारे विचार से डॉ0 स्नातक का मत अधिक समीचीन है। इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत राधा-कृष्ण के युगल-स्वरूप की साधना का ही प्रमुख रूप से उपदेश है, किन्तु कृष्ण की अपेक्षा राधा की पूजा एवं भक्ति को यहाँ अधिक महत्त्व दिया गया है। यहाँ इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त का वैशिष्ट्य है, अर्थात् कृष्ण की अपेक्षा राधा की अर्चना व भक्ति को इन्होंने अधिक महत्त्व प्रदान किया और राधा की प्रथम-पूजा को शीघ्र

1- अष्टछाप तथा वल्लभ-सम्प्रदाय - पृ0 64
2- राधावल्लभीय-सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य - पृ0 53
3- आचार्य बलदेव उपाध्याय, वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त - पृ0 376

2

फलदायिनी अंगीकार किया गया । माना जाता है, कि श्री हरिवंशजी ने स्वप्न में राधाजी से मंत्र-ग्रहण करके उनका शिष्यत्व ग्रहण किया था । इन्होंने कर्म और ज्ञान मार्ग के साधनों की अपेक्षा प्रेम-भक्ति के मार्ग को सर्वोच्च मानकर ही राग-मार्गी भक्ति का प्रचार किया । डॉ0 हरवंशलाल इस सम्प्रदाय के बारे में लिखते हैं - "इस सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति से प्रतीत होता है कि यह भक्ति-भावना अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की भक्ति भावना से स्वतन्त्र है । इस सम्प्रदाय का अनन्य दास भाव, कुंजकेलि, दम्पति की रखवाली अर्थात् दासीभाव, विधि-निषेध का त्याग तथा राधिकाजी को इष्टदेवी के रूप में मानना ही विशेषताएँ हैं ।[1] डॉ0 दीनदयालु गुप्त के अनुसार यह सम्प्रदाय केवल एक साधना मार्ग था, तात्विक सिद्धान्त की दृष्टि से वेदान्त के भिन्न-भिन्न वादों के अन्तर्गत आने वाला कोई वाद नहीं ।[2] किन्तु हमारे विचार से प्रत्येक साधना मार्ग के मूल में विकसित या अविकसित एक विचार धारा अवश्य होती है । जैसा आगे के विवरण से सिद्ध हो जायेगा, यह सम्प्रदाय भी इसका अपवाद नहीं है । यद्यपि स्वामी हित हरिवंशजी (तथा सेवकजी तक) की परम्परा में ब्रम्ह सूत्रों पर कोई भाष्य नहीं लिखा गया किन्तु बाद को स्थिति वैसी न रही उसमें परिवर्तन आया और जैसा कि डॉ0 स्नातक लिखते हैं - "परवर्ती गोस्वामियों तथा साधु शिष्यों द्वारा इस सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति के विषय में कहा गया और ऐसे-ऐसे सिद्धान्त स्थिर किए गए जिन्हें देखकर आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहा जाता । इस सम्प्रदाय में भी शंकराचार्य की शैली में "राधावल्लभीय भाष्य लिखे गये । वेदान्त-सूत्रों पर टीका तैयार हुई और दार्शनिक नामकरण करते हुए राधा वल्लभ सम्प्रदाय को "सिद्धाद्वैत" नाम दिया गया । ब्रह्म और जीव के अभेद सम्बन्धों की स्थापना में राधाकृष्ण का अभेद बताकर इस

1- सूर और उनका साहित्य - पृ0 154 - 156

2- अष्टछाप तथा वल्लभ सम्प्रदाय - पृ0 65

सिद्धान्त की सम्पूर्ण पीठिका तैयार कर दी गई ।[1] श्री हित हरिवंशजी के पश्चात् इनके अनुयायियों ने अपने सम्प्रदाय की भावना को दार्शनिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया जिसके फलस्वरूप ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य रचना हुई ।[2]

2। हितहरिवंशीय सम्प्रदाय के प्रमुख भक्त - कवि :-

।1। स्वामी हित हरिवंशजी ।संवत् 1559 - 1609। - स्वामीजी इस सम्प्रदाय के संस्थापक होने के साथ-साथ प्रमुख कवि भी हैं । केवल 50 वर्ष की आयु पाने वाले परम रसिक श्री हितहरिवंशजी ने भक्ति-रस की एक नवीन धारा को प्रवाहित किया । हितजी के पिता श्री व्यास मिश्र थे । हितजी रस सिद्धान्त के उपासक थे, जिनसे अनेक रसिकों ने रसिकता का आधार प्राप्त किया । श्री हितजी के उपास्य श्री नन्दनन्दन और वृषभानुनन्दिनी हैं । उनका क्षेत्र ब्रजलीला से सम्बन्धित है परन्तु हित् चौरासी के पदों में उनकी नित्यविहार की भावना तात्त्विक दृष्टि से अधिक प्रस्फुटित हुई है । श्री राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम तत्व को "हित" नाम से अभिहित किया गया है और हित हरिवंश को उसकी साकार मूर्ति माना गया है । प्रिया-प्रियतम का जितना भी खेल है, वह हित का ही खेल है । हित के बिना हरि कुछ भी नहीं हैं ।[3] हित हरिवंशजी द्वारा रचित रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं - ।1। राधा-सुधा निधि, ।2। यमुनाष्टक ।ये दोनों रचनाएं संस्कृत में हैं।, ।3। हित चौरासी या हित चतुराशी, ।4। स्फुट वाणी ।ये दोनों ग्रन्थ ब्रजभाषी हैं। । रस की दृष्टि से हित चौरासी इनका प्रमुख ग्रन्थ है ।

1- राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य - पृ0 126

2- राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य - पृ0 128

3- डॉ0 शरणबिहारी गोस्वामी, कृष्ण भक्ति काव्य में सखीभाव - पृ0 520

§2§ श्री हरिराम व्यासजी §संवत् 1549 - 1650-55§ - वैष्णव भक्तों में व्यासजी "विशाखा सखी" के अवतार माने जाते हैं। विशाखा सखी राधामाधव-मिलन में सहयोग देकर राधा का अनुगमन करती है। नाभादासजी के छप्पय के अनुसार व्यासजी का परिचय "श्री हरिवंशजी के शिष्य व्यासजी" कह कर दिया गया है। ये भी ब्रजमण्डल के प्रसिद्ध रसिक-भक्तों में स्थान रखते थे। व्यासजी का जन्म स्थान निर्विवाद रूप से ओरछा §टीकमगढ़§ राज्य माना जाता है। इनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम सुमोखन शुक्ल था। किन्तु इनके जन्म संवत् के विषय में मतैक्य नहीं है। व्यासजी प्रतिभा सम्पन्न, संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। अनेक विद्वानों के मध्य से शास्त्रार्थ में विजयी हुए। ओरछा नरेश के ये राजगुरु भी थे। एक बार संयोगवश रसिक मण्डली के सम्पर्क में आने पर इनका हृदय परिवर्तन हुआ और फलस्वरूप रागानुगा भक्ति की ओर वे प्रेरित हुए। तदनन्तर हित हरिवंशजी में श्रद्धा जागृत होने पर वे सदा के लिए ओरछा छोड़कर वृन्दावन चले गए।[1] यद्यपि व्यासजी की भक्ति भावना पर निम्बार्क तो कभी माध्व मत की प्रधानता होने की बात कही जाती है, किन्तु व्यासजी की भक्ति भावना का अध्ययन करने पर उनके मूल में राधा वल्लभीय साधना की ही प्रधानता दृष्टि गोचर होती है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों को इस प्रकार विभक्त किया जा सकता है -

§1§ व्यास वाणी - 753 पद और 148 दोहे।

§2§ रागमाला §अप्रकाशित§ 604 दोहे §संगीत विषयक ग्रन्थ§

§3§ नवरत्न और स्वधर्म पद्धति §संस्कृत, अप्राप्य§

व्यासजी संगीत-शास्त्र के भी विद्वान थे। काव्य, संगीत और राधावल्लभ के प्रति अपनी अनन्य आस्था के फलस्वरूप ही व्यासजी ने निकुंज-रस का सरस गान किया।

1- दे0 भक्त कवि व्यासजी §वासुदेवशरण गोस्वामी§ - पृ0 84

5

(3) सेवकजी दामोदरदास (संवत् 1577 - 1610) - भगवतमुदित जी ने अपने "रसिक-अनन्यमाल" में सेवकजी का जो परिचय दिया है, उसके अनुसार सेवकजी का गढ़ा ग्राम (वर्तमान जबलपुर से दो मील दूर) के एक ब्राह्मण परिवार में जन्म हुआ। सच्चे गुरु की चाह इन्हें व्याकुल किए रहती थी। राधा-वल्लभीय वैष्णवों से जब उन्होंने श्री हित हरिवंशजी का नाम व परिचय प्राप्त किया तो इनके मन में हित जी से दीक्षा लेने की इच्छा प्रबल हुई। किन्तु सेवकजी के वृन्दावन पहुँचने से पूर्व ही हितजी का लीला में प्रवेश हो चुका था। सेवकजी के लिए यह दुःखद समाचार असह्य हो गया। वे व्याकुल हो उठे। हित जी को वे अपना गुरु मान चुके थे। अब हित जी के पद उनके सामने थे। उन्हें पढ़-पढ़ कर हित-वाणी की व्याख्या के रूप में सेवकजी ने अपने छन्दों की रचना की जिसका सम्प्रदाय में बड़ा सम्मान हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार सेवकजी हित हरिवंश-जी के शिष्य स्वप्न में हुए थे। वृन्दावन आकर वे अधिक समय जीवित न रह सके। डॉ० स्नातक के अनुसार इनका निकुंज गमन संवत् 1610 में हुआ। इन्होंने श्री हित हरिवंश की रचना "हित-चौरासी" की व्याख्या करते हुए "सेवक वाणी की रचना की। सेवकजी की वाणी का वैशिष्ट यह है कि वह सदैव हरिवंशजी की "चौरासी" के साथ मिलाकर पढ़ी जाती है। अपने गुरु एवं उपास्य के प्रति जैसी एक निष्ठा सेवक वाणी में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी वाणी 16 प्रकरणों में विभाजित है और "हित-तत्व" को आधार मान कर सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की व्याख्या करती है। सेवकजी की दृष्टि में हित के मूर्त रूप उनके गुरु स्वयं थे। अतः जहाँ-जहाँ उन्होंने प्रेम का प्रकाश देखा वहाँ वहाँ श्री हरिवंश की लीला का ही दर्शन किया। ध्यातव्य यह है कि बौद्धों ने विशेष रूप से महायानी बुद्ध-अनुयायियों ने भी गुरु व बुद्ध को एक रूप में देखा था। वहाँ गुरु व ईश्वर में समानता पायी जाती है। वही भाव मध्यकाल में कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में भी पाया गया। राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय में इसकी चर्चा हम आगे यथा स्थान करेंगे।

।4। श्री चतुर्भुजदास ।संवत् 1585 - 1690। - ये सेवकजी के परम सुहृदय कहे जाते हैं। "हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में श्री चतुर्भुजदासजी का जीवन वृत्त बड़े भ्रामक रूप में अंकित होता रहा है। अष्टछाप के चतुर्भुजदास को राधावल्लभ सम्प्रदाय के चतुर्भुजदास के साथ मिलाकर एक कर दिया गया है; फलत: इनकी रचनाओं को अष्टछाप के भक्त कवि चतुर्भुजदास के नाम से लिखा गया है।"[1] ये सेवकजी के समवयस्क थे, अत: आपका जन्म सं0 1585 के आस-पास ठहरता है। चतुर्भुजदास के जन्म स्थान का संकेत हमें नाभादासजी के "भक्तमाल" में उनके सम्बन्ध में लिखे गये छप्पय से मिलता है। जन्म स्थान के साथ ही सम्प्रदाय, छाप व उनके गुरू का भी संकेत है -

गायौ भक्ति प्रताप सबहिं दासत्व बढ़ायौ,
राधावल्लभ भजन अनन्यता वर्ग बढ़ायौ ।।
मुरलीधर की छाप कवित्त अति ही निर्दूषन।
भक्तनि की अंघ्रिरेनु वहै धारी सिर भूषन ।।
सत्संग महा आनन्द में प्रेम रहत भीज्यौ हियौ।
हरिवंश चरन बल चतुरभुज गौड़ देश तीरथ कियौ ।।

उपर्युक्त छप्पय की टीका करते हुए वार्त्तिक तिलक में इस प्रकार लिखा है - "अपने गुरू श्री हित हरिवंशजी के चरणों के बल से श्री चतुर्भुजदास जी ने "गोंडवाना" देश भर को तीर्थ समान पवित्र कर दिया। श्री भक्ति का प्रताप भली प्रकार गानकर वहाँ के सब जीवों को श्री हरिदासता दिला दी और श्री राधावल्लभजी के भजन परिवार को ।अनन्य भक्ति का परिवार। अतिशय बढ़ाया। अपनी कविता में ये मुरलीधर की छाप रखते थे। आपका कवित्त अति ही निर्दूषण होता था। भगवद्भक्तों के चरणों की रेणु आपके

1- डॉ0 विजयेन्द्र स्नातक, राधावल्लभ सम्प्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य - पृ0 404

अंग का भूषण थी । सत्संग में महाआनन्द देने वाले प्रभु के प्रेम में आपका हृदय भीगा रहता था ।[1]

श्री चतुर्भुजदास का प्रसिद्ध ग्रन्थ "द्वादशयश" नाम से प्रसिद्ध है । इसके छोटे-छोटे बारह भाग हैं । द्वादशयश के अन्तर्गत बारह यशों के नाम इस प्रकार हैं - (1) शिक्षा-सकल समाप्त यश, (2) धर्मविचार यश, (3) भक्ति प्रताप यश, (4) सन्त प्रताप यश, (5) शिक्षासार यश, (6) हितोपदेश यश, (7) पतितपावन यश, (8) मोहिनी यश, (9) अनन्य भजन यश, (10) राधा सुप्रताप यश, (11) मंगलसार यश और (12) बिमुख मुख भंजन यश ।[2]

ग्रन्थों के *नाम* नाम से ही स्पष्ट है कि स्वामी चतुर्भुजदासजी ने संसार के जनों को भक्तिमार्ग अथवा रस मार्ग में प्रवृत्त करने के लिए उपदेश अथवा सिद्धान्तों की रचना की है । इन सिद्धान्तों में मोटी बात यह है कि जगत अन्ततः दुख-दायी है । (बौद्धों के "सर्वं दुःखं - दुःखं" सिद्धान्त का यहाँ सहज ही स्मरण हो जाता है ।) इससे बचने का सरलतम उपाय है - श्री राधा-कृष्ण की भक्ति । प्रेम लक्षणा भक्ति ही सबसे उच्च कोटि की वस्तु है । उसे प्राप्त करना ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है ।[3]

स्वामी चतुर्भुजदास की महत्ता इसलिए भी सम्प्रदाय में विशेष सम्माननीय है क्योंकि ये हित सम्प्रदाय के अनन्य भक्त तो थे ही, साथ ही उन्होंने अपने इस राधा वल्लभीय सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार का व्यापक कार्य भी किया ।

1- दे0 राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य - पृ0 408

2- डॉ0 शरणबिहारी गोस्वामी, कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव - पृ0 532

3- डॉ0 शरणबिहारी गोस्वामी, कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव - पृ0 532

अनेक लोगों को इस सम्प्रदाय का अनुगामी बनाया । अपने भक्ति प्रवाह को इन्होंने अपने प्रदेश (गोंडवाना) के सहस्रों व्यक्तियों में फैलाया व अपनी प्रेम भक्ति का प्रचार किया ।

(5) __ध्रुवदासजी__ (संवत् 1630 - 1700) - ध्रुवदासजी भी हित सम्प्रदाय के एक प्रसिद्ध भक्त हुए । अपनी भक्ति विषयक रचनाओं के अत्यन्त विस्तार के कारण हिन्दी भक्ति काव्य साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं । इनके सम्बन्ध में भी राधावल्लभीय सम्प्रदाय के ग्रन्थों में अधिक सामग्री प्राप्त नहीं होती । भगवत् मुदित कृत "रसिक-अनन्यमाल" अथवा गो० जतनजी कृत "अनन्यतासार" में इनका थोड़ा परिचय दिया गया है । जिसके अनुसार ध्रुवदासजी देववन के निवासी थे । कायस्थ कुल में इनका जन्म हुआ था । इनके बाबा बीठ्ठलदास श्री हित हरिवंशजी के ही एक शिष्य थे तथा इनके पिता श्री श्यामदासजी भी इसी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए । अतः परम्परागत रूप से ही ध्रुवदासजी राधावल्लभ के अनन्य उपासक थे । दस साल की आयु में ही ये घरबार छोड़कर वृन्दावन चले आये थे । "राधा-वल्लभ सम्प्रदाय के भक्त-कवियों में साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का जैसा सर्वांगपूर्ण विवेचन ध्रुवदासजी की वाणी में उपलब्ध होता है वैसा किसी अन्य महानुभव की वाणी में नहीं है । ध्रुवदासजी ने राधावल्लभीय भक्तितत्व को जितनी समग्रता और व्यापकता के साथ अपनी वाणी में पल्लवित किया वह इस तथ्य का प्रमाण है कि वे हित हरिवंशजी की भक्ति पद्धति के भाष्यकार व्याख्याता थे । सेवकजी ने वृत्तिकार का कार्य किया था तो ध्रुवदासजी ने स्वतन्त्र रूप से व्याख्या और भाष्य प्रस्तुत किया ।"[1] स्नातकजी ने इन्हें हित-सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्तों का व्याख्याता और भाष्यकार कहा है, जो सर्वथा उचित है । इन्होंने वेद-पुराण स्मृति शास्त्रों का सार ग्रहण कर ब्यालीस छोटे-बड़े

1- डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, राधा वल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य - पृ० 427

ग्रन्थों का प्रणयन किया जो "ब्यालीस लीला" नाम से प्रख्यात है । इनमें विभिन्न लीलाओं अथवा सिद्धान्तों का कथन है । इन ग्रन्थों में प्रयुक्त रसिकों की विशेष परम्परा के कारण इन्हें लीला नाम भी दिया जाता है । अन्यथा इनमें अधिकांश सम्प्रदाय के सिद्धान्त ग्रन्थ ही हैं । इसके अतिरिक्त ध्रुवदासजी द्वारा रचित कुछ ॥103॥ स्फुट-पद भी प्राप्त होते हैं ।

उपर्युक्त लगभग सभी भक्ति-कवियों के विषय में कोई निश्चित तथा प्रामाणिक आधार उपलब्ध न होने के कारण विद्वानों में अनेक मत हैं । उपर्युक्त तिथियाँ विद्वानों के अनुमानाश्रित हैं ।

3॥ बौद्ध-धर्म का प्रभाव :

॥1॥ संन्यास तथा वैराग्य की भावना - मूलतः बौद्ध-धर्म संन्यास प्रधान धर्म है । यह श्रमणों की परम्परा थी । गृहस्थों की परम्परा से भिन्न यहाँ - धर्मनिन्दा, अर्थनिन्दा तथा कामनिन्दा की बात कही गई, जो कि सामाजिक जीवन के अनिवार्य अंग हैं । यह वैराग्य की भावना व्यक्ति को उसके कर्तव्यों से विमुख कर व्यक्तिगत सुख व व्यक्तिगत स्वार्थ की ओर धकेलती है । श्री हितहरिवंशजी के "हित" सम्प्रदाय में भी यह व्यक्तिगत हित तथा व्यक्तिगत उद्धार की भावना पाई जाती है । यहाँ मात्र श्री राधा - कृष्ण के युगल स्वरूप का ध्यान तथा मनन करते हुए उनकी विभिन्न क्रीड़ाओं का स्मरण कर आनन्दित होना ही व्यक्ति का प्रमुख कर्तव्य माना गया है । ब्रजभाषा में रचित हितजी की रचनाओं पर यह भक्ति तथा वैराग्य की भावना निम्नलिखित रूप में पाई जाती है -

॥क॥ तू बालक नहिं भयौ सयानप काहे कृष्ण भजत नहीं नीके ।
अतिव सुमिष्ट तजिब सुरभिन मय मन बाँधत तंदुल जल फीके ।।
जयश्री हित हरिवंश नरकगति दुरभर यमद्वारे कटियत नकछीके ।
अब अब कठिन मुनीजन दुर्लभ पावत क्यौं जु मनुज तन भीके ।।[1]

1- श्री हित सुधाकर - स्फुटवाणी - पृ0 149

(ख) मानुष कौ तन पाय भजौ ब्रजनाथ कौं ।
दर्वी लैकै मूढ़ जरावत हाथ कौं ।।[1]

यद्यपि हित हरिवंशजी गृहस्थ थे, परन्तु गृहस्थ होकर भी वे विरक्तों में भी विरक्त थे ।[2] स्पष्ट है यह वैराग्य भावना बौद्ध धर्म की सँन्यास प्रवृत्ति से साम्य रखती है ।

(2) नाम-महिमा तथा गुरु की श्रेष्ठता - नाम महिमा तथा गुरु की सर्वोच्चता को बौद्ध धर्म के अन्तर्गत विशेष महत्त्व दिया गया है । यहाँ तक कि, जैसा हम पहले भी कह चुके हैं, बौद्ध-धर्म की महायानी शाखा के अन्तर्गत तो ईश्वर और गुरु में अभेद स्थापित किया गया । शिष्य (साधक) का अनिवार्य धर्म था कि वह गुरु को ईश्वर के समकक्ष मानते हुए उसके नाम का स्मरण करे । गुरु के उपदेश रूपी अमृत का पान करने पर ही शिष्य का कल्याण सम्भव है । तभी तो सिद्ध सरहपा ने कहा -

गुरु-उपदेशे अमृत-रस, धाइ न पीयेउ जेहि ।
बहु शास्त्रार्थ मरुस्थलहिं, तृषिते मरेउ तेहि ।। (काव्यधारा, सरहपा-56)

यह गुरु भक्ति परवर्ती सभी वैष्णव सम्प्रदायों की निजि विशेषता बन गयी । राधा वल्लभीय सम्प्रदाय में यह गुरु भक्ति इसी रूप में पाई जाती है -

गुरु गोविन्द न भेद कराय ।
सन्तन सकल सुनहु चित लाय ।।[3]
गुरु सेवा तजि करहिं जे आनि
यहै अधर्म यहै सब हानि ।।[4]

इस प्रकार गुरु सेवा राधावल्लभीय सम्प्रदाय में अपना विशेष महत्त्व रखती है ।

1- श्री हित सुधाकर - स्फुटवाणी - पृ0 149
2- आचार्य बलदेव उपाध्याय, वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त - पृ0 378
3- श्री हित सुधा सागर - (श्री सेवक वाणी) - पृ0 244
4- श्री हित सुधा सागर - (श्री सेवक वाणी) - पृ0 235

{3} वैदिक मान्यताओं की अवमानना - श्रमण-धर्म में विशेष बात यह थी कि वह वेदों {ब्राह्मण-धर्म} की आचार संहिता के विपरीत तथ्यों का समर्थन करता रहा। ब्राह्मणधर्म में जो मुख्य बातें थी - {वर्णाश्रम धर्म की मान्यता, संस्कृत भाषा की अनिवार्यता, सामाजिक सम्बन्धों के निर्वाह की अनिवार्यता आदि} तथा जो वेदों में गृहस्थ जीवन की व्यवस्था के लिए निर्धारित नियम थे, उनका बौद्ध-धर्म प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से खण्डन करते हुए आगे बढ़ा। बौद्धों ने इन सब बातों को व्यक्ति के उद्धार में बाधक माना अतः उपर्युक्त सारे नियम जो सामाजिकता के लिए ब्राह्मणों ने अनिवार्य रूप से निर्धारित किए वही नीति-नियम श्रमणों ने अपने लिए बन्धनकारक माने व त्याज्य बताये। बौद्धों का यह व्यक्तिवादी चिन्तन था। कृष्ण-भक्तिकाव्य के अन्तर्गत हम इन बातों का अर्थात् बौद्धों के चिन्तन का प्रभाव देख सकते हैं। जब विपरीत परिस्थितियों के फलस्वरूप भारत में बौद्ध-धर्म का लोप {विलय} होने लगा तब, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं - बौद्ध-धर्म अपने अवशेषों के साथ छद्म रूप धारण करके वैष्णव-धर्म में प्रविष्ट हो गया, किन्तु कलेवर बदल लेने पर भी उनकी आत्मा अपने धर्म {बौद्ध} के प्रभाव से मुक्त नहीं होने पायी। वह अपनी मूल प्रवृत्तियों को विस्मृत नहीं कर सका। मध्यकालीन जितने भी नव वैष्णव-धर्म अस्तित्व में आये उन में बौद्ध धर्म की बहुत सी बातें किसी न किसी रूप में समाविष्ट रहीं। राधा वल्लभीय सम्प्रदाय में इन तत्वों का हम इस प्रकार देख सकते हैं -

{4} कर्मकाण्डों का त्याग - श्री हित हरिवंशजी ने अपने सम्प्रदाय में कर्मकाण्डों को कहीं मान्यता नहीं दी। लौकिक कर्मों के प्रति वे अनास्था बुद्धि से ही चलते रहे। अर्थात् लौकिक कर्तव्यों के प्रति उन्हें आस्था न थी। वहाँ तो महामाधुरी प्रेम रस हृदय में स्फुटित हो जाने के उपरान्त किसी कर्म अकर्म का स्मरण ही नहीं रहता। ऐसे कर्म तो इस प्रेम-रस में बाधक हैं। उन्हें त्याज्य ही कहा गया, क्योंकि ये कर्म के बन्धन भक्ति में बाधक बन जाते हैं अतः जहाँ कर्म हैं वहाँ भक्ति का प्रवेश नहीं हो सकता। तभी तो वे कहते हैं -

जहाँ कर्म तहाँ भक्ति न आवे ।
रवि छत कैसे रात बितावे - ।।
कै काजर को सेत बनावे ।
कर्मनि मांझ भक्ति तौं पावे ।। ॥चतुर्भुजदास॥

अर्थात् कर्म और भक्ति का कोई मेल नहीं है । जहाँ भक्ति है, वहाँ कर्मों के लिए स्थान नहीं हो सकता है । कर्म के साथ भक्ति की स्थापना करना काजल को सफेद करना है । ॥कृष्ण-भक्ति काव्य में यह कर्मनिन्दा हमें बौद्धों के विचारों का स्मरण कराती है॥ इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अन्य सब साधनों को छोड़कर मात्र कृष्ण राधा से प्रेम करे । प्रेम के वश में होकर ही भगवान ब्रज में रहते हैं ।

प्रेम भक्ति ब्रज में अति भारी । ता बस अटके कुंज बिहारी ।।

अतः मान, अपमान, छल-कपट, मोहमाया छोड़कर व्यक्ति मात्र राधावल्लभ से रति रखें तभी उसका कल्याण सम्भव है । यह सर्व भावेन समर्पण हमें बौद्धों के "शरणागति" सिद्धान्त का स्मरण कराता है । वहाँ "त्रिशरण" ॥बुद्ध धर्म संघ॥ महत्वपूर्ण है । यहाँ राधावल्लभ के प्रति सम्पूर्ण रूप से समर्पण अनिवार्य है । कर्म यदि बन्धनकारण बनें तो उन्हें सर्वथा त्याग कर भी कृष्ण-राधा की भक्ति की ओर भक्त को उन्मुख होना चाहिए । प्रेमलक्षणा भक्ति में कर्म नहीं स्थिर रह सकते क्योंकि जहाँ कर्म-धर्म है वहाँ भक्ति नहीं टिकती । इस प्रकार कर्म निन्दा राधावल्लभीय सम्प्रदाय में सहज ही देखी जा सकती है ।

॥5॥ <u>सामाजिक सम्बन्धों की निन्दा</u> - सामाजिक सम्बन्धों की अवहेलना श्रमण-धर्म की तरह इस सम्प्रदाय में देखी जा सकती है । राधावल्लभीय सम्प्रदाय की भक्ति में भी विषयभोग के पदार्थ - पुत्र - कलत्र, कुटुम्ब आदि सांसारिक दुःखों में वृद्धि ही करते हैं । अतः इनसे स्वयं को मुक्त रखना ही श्रेष्ठकर है । वे कहते हैं -

"माया कौ फल गृह सुत जाया, सबसंसार धूरि सी छाया"।

संसार के धूल की तरह बिलीन होने की इनकी यह बात बौद्धों के क्षण-भंगुरवाद का भी स्मरण कराती है । बौद्धों के अनुसार भी सारे सम्बन्ध, जो कुछ भी आज हमें दिखायी दे रहे हैं वे नष्ट हो जाने वाले हैं । वे अस्थायी हैं । अतः ऐसे सामाजिक सम्बन्धों के प्रति लगाव व्यक्ति को ईश्वर भक्ति से विमुख करता है । क्योंकि ये सारे सामाजिक सम्बन्ध तो झूठे हैं । अतः पुत्रधन, दारा के प्रति मोह को तो ऐसा ही समझिए जैसे स्वान या गीदध के शरीर में होने वाली खाज ।

"पीडित घर-घर भटकत डोलत, पंडित मुंडित काजी ।
पुत्र कलत्र सुवन की देही, गीध स्वान की खाजी ।। ॥भक्त कवि व्यासजी॥

विभिन्न विषयों में फंसा व्यक्ति भक्ति से विमुख होकर अत्यन्त दुःख पाता रहता है । "विभिन्न इन्द्रियाँ भी भक्ति विमुख प्राणी को इस प्रकार से नाच नचाती हैं जिस प्रकार एक पति को बहु पत्नियाँ । यह दुःख तभी मिट सकता है जब भगवान से रति हो जाए । कंचन और कामिनी से मोह रखने वाला व्यक्ति वास्तविक सुख को प्राप्त नहीं कर सकता ।"[1] इस प्रकार हित सम्प्रदाय बौद्धों की तरह सामाजिक संबंधों को भक्ति में बाधाकारण मानते हुए उन्हें त्यागने की बात करता है, जो स्पष्ट ही बौद्ध-धर्म का प्रभाव है । क्योंकि संन्यास धर्म ही सामाजिक सम्बन्धों को त्यागने की बात करता है । ब्राम्हण परम्परा सामाजिक सम्बन्धों पर ही स्थिर है । अतः सामाजिक जीवन का बहिष्कार, बौद्ध धर्म का प्रभाव है, जिसे हम उपर्युक्त सम्प्रदाय में देखते हैं ।

॥6॥ <u>अनन्यता तथा विधि-निषेध</u> - श्री हित हरिवंशजी के मत में अनन्यता की महत्ता बताते हुए सेवकजी ने स्पष्ट

1- डॉ० विजयेन्द्र स्नातक - राधावल्लभ सम्प्रदाय - सिद्धान्त और साहित्य - पृ० 41 ।

यह लिखा है कि सच्ची अनन्यता आने पर बाह्य विधि-निषेध की सीमाएँ टूट जाती हैं, और साधक का मन एक ऐसी अनिर्वचनीय आनन्द दशा में पहुँच जाता है, जहाँ जाति-पाँति कुल-धर्म कुछ नहीं रहता ।[1]

"समुझै नहीं कछू कुल-धर्म, सूधौ चलै आपने धर्म" ।[2]

नाभादास तथा प्रियादास ने इनके विचारों पर अपने जो मत व्यक्त किए हैं, उनसे यही ज्ञात होता है कि हित हरिवंशजी ने किसी विधि या निषेध के प्रपंचों में न पड़ कर मात्र राधा कृष्ण, उनमें भी राधा में अनन्य भक्ति को ही सब कुछ माना ।[3]

व्यासजी की वाणी में इनकी इस प्रवृत्ति का उदाहरण इस प्रकार है -

राधिका सम नागरी प्रवीन की नवीन सखि,
रूप, गुन, सुहास, भाग आगरी न नारि ।
ताके बल गर्व भरे, रसिक व्यास से न डरे,
लोक, बेद, कर्म, धर्म, छाँडि मुकुति चारि ।। (व्यासवाणी - 429)

इसी प्रकार ध्रुवदासजी भी मानते हैं कि महामाधुरी प्रेम रस हृदय में यदि उत्पन्न हो जाता है तब नवधा भक्ति में भी रुचि नहीं रहती और सारे नियम जो इसमें बाधक होते हैं मिटा दिए जाते हैं । स्पष्ट है कि नवधा के अतिरिक्त दसधा भक्ति ही प्रेममार्गी भक्तों का प्रेय थी । यही रागानुगाभक्ति ही कदाचित दसधा भक्ति के नाम से इन रस-सम्प्रदायों में प्रचलित थी । यह भक्ति बौद्ध-तांत्रिकों की राग साधना से साम्य रखती है ।

महामाधुरी प्रेम रस आवै जिहि उर माँहि ।
नवधाहूँ तिहि रुचै नहिं नेम सबै मिटि जाई ।।
(ध्रुवदास भजन कुंडलिया लीला)

1- डॉ0 सत्येन्द्र, ब्रज साहित्य का इतिहास - पृ0 227 पर

2- श्री सेवकजी की वाणी (श्री हित सुधा सागर)

3- श्री रति भानुसिंह "नाहर", भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - पृ0 354।

इस प्रेम मार्ग में सौ राई के समान भी नियम आ जाएँ तो जिस प्रकार दूध थोड़ी सी खटाई से ही बिगड़ जाता है, उसी प्रकार इस प्रेमाभक्ति में नियम के आ जाने से प्रेम में (ईश्वर के प्रति एकनिष्ठा में) व्यवधान आ जाता है । अतः नियमों को (विधि-निषेधों को) त्याज्य ही समझना चाहिए ।

बिना नेम जहाँ प्रेम बिराजे, सो निह काम सब रस गाजे ।
राई सम जो नेम मिलाई, काँजी दूध प्रेम ह्वै जाई ।।
(ध्रुवदास-अनुराग लता लीला - पृ० 241)

हित हरिवंशीय सम्प्रदाय माधुर्य भक्ति का पोषक है, माधुर्यभक्ति में भी जो दो भेद - (रस भक्ति तथा शास्त्र भक्ति) किए जाते हैं, यह सम्प्रदाय प्रथम रूप वाली भक्ति अर्थात् रस भक्ति का पोषक रहा है । इस रस भक्ति को इन्होंने शास्त्रोक्त विधि-निषेधों, कठोर मर्यादाओं से मुक्त रखा । इनके अनुसार बाह्य चारों में उलझ कर शुद्ध प्रेम की क्षति होती है, स्नेह का अभाव हो जाने से भक्त निकुंज लीला में हो रहे नित्य-विहार का आनन्द-लाभ करने से वंचित रह जाता है । राधावल्लभ के नित्य विहार के दर्शनों के सुख का अनुभव करने की क्षमता भक्त में नहीं रह पाती । प्रेम की स्वच्छन्द लीलाओं को यदि शास्त्र की श्रृंखला से जकड़ दिया जाए तो उसमें चित्त को द्रवित करके अपने में रमाने की सहज शक्ति का अभाव हो जाता है ।

या रस में विधि नहीं निषेध,
तहाँ न लगन ग्रहन के वेध
तहाँ कुदिन दिन कछु नहीं ।
नहीं शुभ अशुभ मान अपमान,
स्नान-क्रिया जप तप नहीं ।। (सेवकवाणी - पृ० 82)

श्री हरिराम व्यासजी ने अपनी वाणी में रसमार्ग का अनुगमन करने वालों को विधि निषेध से ऊपर ठहराया है, और बार-बार कहा है प्रेम मार्ग

की उपासना करने वालों को किसी बाह्याचार, कर्मकाण्ड और विधिनिषेध के फेर में नहीं पड़ना चाहिए ।[1] प्रेम मार्ग की उपमा ध्रुवदासजी ने केहरी से दी है जो निर्द्वन्द्व होकर जंगल में घूमता है । किसी के शासन की परवाह नहीं करता । अन्य सब-धर्मी मृग के समान बंधन में बंधे रहते हैं ।[2]

विधि निषेध के बन्ध हैं और धर्म मृगमानि ।
केहरि मुनि निर्बंध है, भगवत धर्महि जानि ।। ॥ब्यालीस लीला -पृ0 72॥

इस प्रकार बौद्धों की तरह हित सम्प्रदाय में भी विधि-निषेधों की अवहेलना की गयी हैं ।

॥7॥ <u>सम्प्रदायवाद</u> - जैसा कि हम जानते हैं, बौद्ध-धर्म समय-समय पर आवश्यकतानुसार नये-नये रूप धारण करता गया । इन्होंने अपने मूलभूत सिद्धान्तों को तोड़-मरोड़ कर आवश्यकतानुसार अनेक नये-नये सम्प्रदाय प्रवर्तित किये । यद्यपि ये सभी बौद्ध धर्म की ही शाखाएं थीं, किन्तु मूल-बौद्ध धर्म तथा इन बौद्ध-धर्मी सम्प्रदायों में अनेक मूलभूत अन्तर भी उभर कर सामने आये । एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय से स्वयं को विशिष्ट व नया बताने लगा । पूर्व सम्प्रदाय से स्वयं को श्रेष्ठ व पृथक बताने का कौशल भी बौद्ध अनुयायियों में प्रचलित था । सम्प्रदायवाद की यह प्रवृत्ति मध्यकालीन कृष्ण भक्ति परम्परा में आने वाले सभी सम्प्रदायों में देखी जा सकती है । कृष्ण व राधा को आराध्य मानकर अनेक सम्प्रदायों का जन्म हुआ । किन्तु आराध्य का स्वरूप एक होते हुए भी प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी साधना पद्धति, विचार आदि में पर्याप्त भिन्नता लिए हुए सामने आया । अपने सम्प्रदाय को एक दूसरे से पृथक व श्रेष्ठ बताना भी बौद्ध सम्प्रदायों की तरह इनकी भी विशेषता रही । राधावल्लभीय सम्प्रदाय भी माध्व तथा निम्बार्क

1- डॉ0 विजयेन्द्र स्नातक, राधा वल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य - पृ0 169

2- डॉ0 विजयेन्द्र स्नातक, राधा-वल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य - पृ0 171

सम्प्रदाय की परम्परा में स्वयं को दर्शाता है, तथापि जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं - "यह सम्प्रदाय साधना पद्धति, विचार-भावना, सेवा-पूजा आदि में किसी का अनुगत नहीं है।"[1]

सम्प्रदाय की एक जो मुख्य विशेषता है, वह है अन्य धर्मों अथवा सम्प्रदायों से स्वयं को उत्तम व विशिष्ट बतलाना। इसी भावना को छूते हुए उदाहरण हित सम्प्रदाय में इस प्रकार देखे जा सकते हैं -

श्री हित जू की रीति कोऊ लाखनि में एक जाने।
राधाई प्रधान माने पाछे कृष्ण ध्याइए।।

और भी

तनहि राखु सतसंग में, मनहि प्रेम रस भेव।
सुख चाहत हरिवंश नित, कृष्ण कल्पतरू सेव।।
सबसों हित निहकाम मन, वृन्दावन विश्राम।
राधावल्लभ लाल को हृदय ध्यान मुख नाम।।[2]

4। साधना पक्ष :

राधावल्लभ सम्प्रदाय के अन्तर्गत भगवान राधावल्लभजी की उपासना तथा उनकी प्रेमाभक्ति का उपदेश ही हित हरिवंशजी के जीवन का सर्वस्व था, और भक्तिपक्ष राधावल्लभ की उपासना था। उपासना वह जिसमें मधुरा भक्ति ही प्रमुख है।[3]

1- दे0 राधावल्लभ सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य - पृ0 53 पर
2- श्री हित सुधा सागर - स्फुटवाणी - पृ0 150 (प्रियादास की उक्ति)
3- दे0 आचार्य बलदेव उपाध्याय - वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त - पृ0 378

यह एक रसिक सम्प्रदाय है । श्रृंगार के संयोग पक्ष को ही इस सम्प्रदाय में मुख्य रूप से प्राथमिकता दी गई है । अतः अनुयायी भक्तों ने केवल राधावल्लभ की संयोग लीलाओं का ही अवलम्बन लिया है । राधाकृष्ण की कुन्ज-लीला के मनन के आनन्द को इस सम्प्रदाय में "परम रस माधुरी" भाव कहा गया है ।[1] कृष्ण व राधा की युगल केलियों द्वारा निसृत आनन्द का भक्त ध्यान करते हुए इस ब्रह्मरस को प्राप्त कर लेता है । जैसा कि डॉ० मिथिलेश कान्ति ने लिखा है - "वैष्णवों ने भी ब्रह्म-रस की लीला हेतु दो रूप - कृष्ण और राधा माने । यह लीला वृन्दावन के निकुंजो में हुई । कृष्ण ही एक मात्र पुरूष हैं और राधा शक्ति । इनका पारस्परिक सम्बन्ध ही हित है । सारी सृष्टि में "हित तत्व" ही व्याप्त है । सिद्ध देह से उस हित-तत्व का साक्षात्कार ही रस भक्ति है । इसका बीज बौद्ध और शैव शक्ति उपासना में ही है । अन्तर इस बात का रहा कि इन वैष्णवों ने युगल सरकार को शरीर के किसी चक्र में नहीं देखा । वैष्णव भक्तों के लिए कृष्ण की ऐतिहासिक परम्परा थी और वही आधार भी । वृन्दावन में राधा कृष्ण का अहर्निश विहार ही ध्येय बना । सहजिया वैष्णवों ने वृन्दावन का प्रतीक अर्थ स्त्री का शरीर लिया पर अन्य वैष्णवों ने उसे नहीं माना । लौकिक वृन्दावन ही नित्य लीला स्थली है ।[2] अतः स्पष्ट है कि राग साधना हित सम्प्रदाय का प्राण है जो कि बौद्ध-तांत्रिकों की रागसाधना से साम्य रखती है ।

॥॥ <u>समरसता अथवा युगनद्ध</u> - जैसा कि हम पहले कह चुके हैं तांत्रिक सहजिया बौद्ध साधकों ने बुद्ध भगवान की चार कायाओं ॥धर्मकाय, निर्माणकाय, सम्भोगकाय तथा सहजकाय॥ में से मात्र सहजकाय को अपनी साधना का लक्ष्य बनाया । सहजकाय की प्राप्ति के लिए इन्होंने नर-नारी के सहजस्वाभाविक लौकिक सम्बन्धों के निर्वाह को आदर्श माना ।

1- डॉ० दीनदयालु गुप्त, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय - पृ० 66

2- हिन्दी भक्ति श्रृंगार का स्वरूप - पृ० 35

प्रज्ञा (साधिका) तथा उपाय (साधक) के परस्पर सम्मिलित रूप (युगनद्ध) के द्वारा समरसता की प्राप्ति होना बताया। इस अद्वय अवस्था के द्वारा ही सहजकाय की प्राप्ति हो सकती है, ऐसा इन्होंने माना। यही प्रज्ञा तथा उपाय समयानुसार राधा तथा माधव के रूप में परिवर्तित कर दिए गए। जैसा कि बौद्धों ने प्रज्ञा को कहीं उपाय से श्रेष्ठ व कहीं उपाय का स्थान प्रज्ञा से पहले निर्धारित किया, ठीक उसी प्रकार मध्यकालीन कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में भी कहीं, राधा, कृष्ण से पहले आराध्य के रूप में स्वीकारी गईं, तो कहीं कृष्ण को राधा से पहले स्थान दिया गया। राधा वल्लभ सम्प्रदाय इसका ज्वलन्त उदाहरण है। यहाँ राधा (प्रज्ञा) को कृष्ण (उपाय) से अधिक महत्त्व प्राप्त है किन्तु "राधा" "कृष्ण" के बिना उसी तरह अधूरी है जिस तरह "प्रज्ञा" "उपाय" के बिना। प्रज्ञा तथा उपाय मिलकर "प्रज्ञोपाय" हो गये तो राधा कृष्ण एक होकर "राधावल्लभ" कहलाये। राधावल्लभीय सम्प्रदायवालों ने - "राधा और कृष्ण की प्रेम-लीला और आनन्द-लीला के ध्यान और मनन में तथा युगल मूर्ति की पूजा में परमानन्द की प्राप्ति का साधन घोषित किया।[1] यहाँ सब कुछ प्रेममय है।

प्यार ही को कुंज और प्यार ही की सेज रची,
प्यार ही सों प्यारेलाल प्यारी बात करहीं।
प्यार ही की चितवनि मुसकनि प्यार ही की,
प्यार ही सों प्यारी जु कों प्यारे अंक भरहीं।
प्यार सों लटकि रहे प्यार ही सों मुँह चहे,
प्यार ही सों प्यारी प्रिया अंक भुज भरिहीं।।
हित ध्रुव प्यार भरी प्यारी सखी देखें खरी,
प्यारे प्यार रहयौं छाइ प्यार रस ढरहीं।। (ध्रुवदास)

1- डॉ0 मलिक मोहम्मद, भक्ति आन्दोलन के प्रेरणा स्त्रोत - पृ0 46

जैसा कि हमने देखा राधावल्लभीय सम्प्रदाय का मूल आधार प्रेम है । आस्वादन करने पर वही प्रेम "रस" कहलाता है -

"प्रेम चाह रस सिन्धु मैं मगन रहत दिन रैन ।
उर सौं उर अधरनि अधर जुरे नैन सौं नैन ।। (ध्रुवदास)

क्योंकि हित सम्प्रदाय रस-सम्प्रदाय है, अतः प्रेम मूर्ति राधा और कृष्ण के नित्य मिलन के अवसर पर साधक तन्मय भाव से उनकी सेवाओं में लगा रहता है । तांत्रिक बौद्ध-धर्म के अन्तर्गत प्रज्ञा (कहीं करुणा) तथा उपाय के एकीकरण को युगनद्ध की संज्ञा दी गई । यह अवस्था साधक तथा साधक की अद्वैत अवस्था द्वारा प्राप्त की जा सकती है । जहाँ वे दो होकर भी एक हो जाते हैं -

"जिमि लोन विलाय पानियहिं, तिमि घरनी लेई चित्त ।
सम-रस जाये तक्षण, यदि पुनि सो सम नित्य ।।
(सिद्धकण्हपा "दोहाकोष-3)

और फिर इस अद्वैत अवस्था से जो समरसता या अद्वैत अवस्था उन्हें (साधक साधिका को) प्राप्त होती है, वही सहजकाय की प्राप्ति कहलाता है -

सहज महातरु स्फुरै (फुरै) त्रिलोके ।
ख-सम स्वभावे बंध-मुक्त कोइ ।।
जिमि जले पानी डाले भेद न जान ।
तिमि मन रतन समरस गगन-समान[1] ।।43।। (लुईपा)

राधावल्लभीय सम्प्रदाय में भी शक्ति (राधा) तथा शक्तिमान (कृष्ण) दोनों अलग-अलग रूप हैं, तथापि उनके युगल स्वरूप की साधना द्वारा ब्रह्मरस

1- म0म0 राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी काव्यधारा से साभार ।

की प्राप्ति करना भक्त का ध्येय रहता है । राधाकृष्ण का एकीकरण उनके अद्वैत स्वरूप का द्योतक है । जैसे बौद्धों में युगनद्ध स्थिति अद्वैत अवस्था का नाम है, ठीक उसी प्रकार राधा माधव का एकीकरण उसी अद्वैत अवस्था को कहा गया है । व्यासजी की ये पंक्तियाँ देखिए -

निरखि सखि, स्यामा बिहरति पिय सौं ।
मुख महँ अधर, बाहु बाहुन महँ, बिछुरत नाहीं कुच जगहिय सौं ।
लट में लट, पट में पट अरुझे, तन में तन, मन में मन हिय सौं ।
मिलि बिछुरी न व्यास की स्वामिनी, ज्यौं बाँड मिलि चिय सौं ।

जैसा हमने पहले देखा कि बौद्धों में जो सहजानन्द है वह युगल रूप से प्राप्त होने वाला वह शाश्वत आनन्द है जिसको बौद्ध सिद्ध समरसता कहते थे । जिसका अहर्निश आनन्द बना रहता है । राधा वल्लभीय सम्प्रदाय में जो नित्य मिलन है, जहाँ प्रिया-प्रियतम नित्य-केलि में लीन रहते हैं, वह भी बौद्धों के सहजानन्द का ही पर्याय है । ध्रुवदास ने इसी अनिर्वचनीय प्रेम का वर्णन इस रूप में किया है -

न आदि न अन्त, विहार करैं दोउ लाल प्रिया में भई न चिन्हारी ।
नई-नई भाँति नई छवि कान्ति नईनकला, नव नेह निहारी ।।
रहै मुख चाहि हिय चित आदि परैरस प्रीति दुहूँ हारी ।
रहँ इक पात करैं कुछु बात सुनो "ध्रुव" प्रेम अकत्थ कथारी ।। (ध्रुवदास)

जल और तरंग का द्वैताद्वैत भाव का जैसा सम्बन्ध है, उसी प्रकार का सम्बन्ध युगल केलि में रहा किशोर - (राधा) किशोरी (कृष्ण) का है -

जय श्री हित हरिवंश हंस-हंसिनी साम्वल गौर कहो कौन करै जल तरंगनी नियरैं ।[1]

1- डॉ० सत्येन्द्र, ब्रज साहित्य का इतिहास - पृ० 214

अथवा

रूप बेलि प्यारी बनी, प्रीतम प्रेम तमाल ।
द्वै मन मिलि एकै भये, श्री राधावल्लभ लाल ।। (व्यास लीला ।55)

(2) <u>महारस अथवा मधुर रस</u> - बौद्धों ने अपने सहजकाय सिद्धान्त के अन्तर्गत सहजसुख की प्राप्ति को सर्वाधिक महत्त्व दिया । इस सहजसुख की प्राप्ति के लिए ही साधक साधिका (योगी-योगिनी, अथवा प्रज्ञा-उपाय) साधना रत रहते हैं । इस सहज सुख को बौद्ध तांत्रिक सिद्ध समरस, अद्वितरस, महारस आदि अनेक नामों से पुकारते थे । गुरु शिष्य को इसी सहज सुख की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है । इनके अनुसार सच्चा गुरु वह है, जो आनन्द या रति के प्रभाव से शिष्य के हृदय में महासुख का विस्तार करे -

"सद् गुरु शिष्ये रतिस्वभावेन महासुखं तनोति" ।

यह सहजभाव हित हरिवंशीय सम्प्रदाय में इस रूप में देखने को मिलता है -

सहज स्याम, स्यामा दोउ कामी, उपजत सहज विकार ।
सहज कुंज रसपुंजनि बरषत, सहज सेज सुख सार ।।[1]

हित सम्प्रदाय में इस सहज सुख को मधुर रस भी कहा गया । मधुर रस को ध्रुवदासजी ने स्थान-स्थान पर वृन्दावन रस, महाश्रृंगार रस, भजन रस, नित्यविहार रस, प्रेम रस, निकुंज विहारी रस, महा माधुरी रस आदि नामों से व्यक्त किया ।[2] जो कि बौद्ध सहजयानियों के महासुख से साम्य रखता है । ध्रुवदासजी कहते हैं -

---

1- डॉ0 प्रेम स्वरूप, हिन्दी वैष्णव साहित्य में रस परिकल्पना - पृ0 245
2- डॉ0 प्रेम स्वरूप, हिन्दी वैष्णव साहित्य में रस परिकल्पना - पृ0 246

"सर्वोपरि है मधुर रस, युगल किसोर विलास ।
ललितादिक सेवत तिनहिं मिलत न कबहु हु आस ।

और देखिए – इस मधुर रस को "वृन्दावन रस" कह कर ध्रुवदास जी इस प्रकार कहते हैं –

यह रस जिन समुझयो नहीं ताके ढिग जिन जाहु,
तानि सत्संग सुधा रसहिं सुध भूलहिं जिनि खाहु ।
वृन्दावन रस अति सरस कैसे करौ बखान,
जेहि आगे वैकुंठ को फीको लगत पयान ।

और भी –

ह्वै अनन्य इक रस गहै वृन्दावन रस रीति ।
विधि-निषेध माने न कछु करै भजन सौं प्रीति ।।

अथवा –

यह रस दुर्लभ जग मैं जानौ ।
नित्यविहार केलि वृन्दावन, प्रीति रीति पहिचानौ
निगमागम मिल विधि सनकादिक परम तत्व उर आनौ
रूपलाल हित रसिक उपासक प्रेमी प्रेम बखानौ ।।

(3) भक्ति अथवा भोग – बौद्धों की भोग परक योग की प्रवृत्ति का उल्लेख हम पहले भी कर चुके हैं । बौद्धों ने योग और भोग को एक रूप में अपनाया । उन्होंने कहा कि राग ही मनुष्य को बांधता है, तो राग से ही मनुष्य मुक्ति भी पा सकता है । इन्होंने माना कि मनोवृत्तियों का दमन करने की अपेक्षा उनका सहज स्वाभाविक निर्वाह व्यक्ति को परम तत्व का आस्वादन करा सकता है । अर्थात् वह मुक्ति पा सकता है । इन्होंने कहा कि बन्धन कारक कारण ही बन्धन-मुक्ति के साधन भी हो सकते हैं । योग और भोग को इन्होंने एक दूसरे का पूरक माना । जिस प्रकार विष का उपचार विष ही है उसी प्रकार भोग ही व्यक्ति को मुक्ति

पथ पर भी अग्रसर कर सकते हैं -

"जिमि विस भक्खइ, विसहि पलुत्ता
तिमि भव भुन्जइ भवहि ण जुत्ता ।।25।। (दोहाकोष)

अर्थात् भव (संसार) के भोगों का उपभोग करके भी व्यक्ति उनमें लिप्त हुए बिना मुक्ति पद पा सकता है । मध्यकालीन कृष्णभक्ति में भी भक्ति और मुक्ति (भुक्ति और मुक्ति) का यह सिद्धान्त आसानी से खोजा जा सकता है । हित हरिवंशीय सम्प्रदाय के अन्तर्गत इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध भक्त कवि की पंक्तियों में यह भाव स्पष्ट रूप से उजागर हुआ है -

"मेरे मते साधु है सोई जहाँ भक्ति रस भोग ।[1]

इस बात से हमारी इस धारणा को बल मिलता है कि हित सम्प्रदाय में भक्ति को भुक्ति (भोग) के रूप में स्वीकार किया गया था, जैसा कि तांत्रिक बौद्ध सिद्धों की साधना में मान्य था । बौद्धों के अनुसार योग के द्वारा शरीर को कष्ट देने की अपेक्षा भोग को ही योग रूप में स्वीकार करना चाहिए । "श्री समाज तन्त्र" का कथन है कि दुष्कर नियमों के करने से शरीर केवल दुःख पाकर सूखता है । चित्त दुःख से समुद्र में गिर पड़ता है । इस प्रकार विक्षेप होने से सिद्धि नहीं मिलती -

दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः मूर्तिः शुष्यति दुःखिता ।
दुःखाब्धौ क्षिप्यते चित्तं विक्षेपात् सिद्धिरन्यथा ।।

इसलिए पंच मकारों के कामों का त्याग कर तपस्या द्वारा अपने को पीड़ित न करें । योगतन्त्रानुसार सुख-पूर्वक बोधि (ज्ञान) की प्राप्ति के लिए सदा यत्न रहें -

---

1- डॉ० प्रेमस्वरूप, हिन्दी वैष्णव साहित्य में रस परिकल्पना - पृ० 244

पन्चकामान परित्याज्य तपोभिर्न च पीडयेत ।
सुखेन साधयेद् बोधि योगतन्त्रानुसारतः ।।

अतः वज्रयान का यह सिद्धान्त है कि देह रूपी वृक्ष के चित्त रूपी अंकुर को विशुद्ध विषय रस के द्वारा सिक्त करने पर यह कल्पवृक्ष बन जाता है और आकाश के समान निरन्जन फल फलता है, महासुख की तभी प्राप्ति होती है[1] -

तनुवरचित्ताङ्कुरको विषयरसैर्यदि न सिच्यते शुद्धैः ।
गगन व्यापी फलदः कल्पतरुत्वं कथं लभते ।।

तात्पर्य यह है कि बौद्ध सिद्धों का मानना यही था कि शरीर को कष्ट देने की अपेक्षा अथवा सांसारिक भोगों की ओर विमुख होने की अपेक्षा सारे सुखों को भोग कर भी योग प्राप्त किया जा सकता है । इसी भुक्ति-मुक्ति युक्त भक्ति को मध्यकालीन कृष्णभक्ति सम्प्रदायों ने थोड़े-बहुत फेर बदल के साथ अपनाया । हित सम्प्रदाय में यद्यपि भक्तगण स्वयं को विरागी कहते हैं अर्थात् संसार के कर्तव्यों मायामोह आदि से स्वयं को विमुक्त मानते हैं, किन्तु राधाकृष्ण के प्रति उनका राग प्रबल है । वे विरागी हैं पर राधावल्लभ के प्रति वे सर्व भावेन समर्पित रागी ही हैं । उनकी भक्ति राग की भक्ति है । सांसारिक (लौकिक) कर्तव्यों का निर्वाह उन्हें सुहाता नहीं । श्रीराधा के प्रति उनका रागभाव उन्हें संसार से दूर रखता है और अनन्य भक्ति में रुचि रखता है । इनके अनुसार तो कर्म के साथ भक्ति की स्थापना करना काजल को सफेद करने जैसा है । रस भक्ति ही भुक्ति मुक्ति दायक है । अर्थात् प्रेमा भक्ति ही सर्वोत्तम है ।

प्रेम भक्ति ब्रज में अति भारी, ता बस अटके कुंजबिहारी । (चतुर्भुजदास)

इस सम्प्रदाय के भक्त कवियों ने प्रेम-श्रृंगार के केवल संयोग पक्ष का ही अवलम्बन किया है । वियोग इस सम्प्रदाय में नहीं है । प्रेमाभक्ति को ही मुक्तिदायक माना गया ।

1- आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्ध धर्म-दर्शन - पृ० 174 से साभार ।

§4§ रागमार्ग §गुह्य साधना§ - जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, बौद्ध तांत्रिकों का मानना था कि उनकी रागसाधना में अधिकारी व्यक्ति ही प्रवेश पा सकता है । सामान्य जन के लिए उस साधना में प्रवेश निषिद्ध था । यह राग- साधना गोप्य रखी जाती थी । राधावल्लभीय सम्प्रदाय में भी मान्यता है कि रसिक-जन ही इस रागमार्गी भक्ति का मर्म समझ सकते हैं । इनका मानना भी यही है, कि वृन्दावन की गूढ़ भक्ति को समझने के लिए अधिकारी व्यक्ति अर्थात् सच्चा रसिक ही यहाँ प्रवेश पा सकता है - तभी तो वे कहते हैं -

महागोप्य अद्भुत सरस चितत रहो मन माँहि ।
या रस के रसिकन बिना सुन "ध्रुव" कहियो नाहि ।।
§रस रत्नावली लीला - पृ0 167§

इस साधना को सर्वोपरि व गोप्य बताते हुए इसे अनधिकारी व्यक्तियों से गोप्य रखना ही उचित समझा गया है ।

यह रस परस्यो नाहि जिन तिनहि न नैक जताइ ।
जैसे धन को धनी ध्रुव राखत दूरि दुराइ ।।
§आनन्दलता लीला - पृ0 235§

तात्पर्य स्पष्ट है कि राधावल्लभीय "रससाधना" गुह्य साधना है ।

§5§ श्रृंगार वर्णन - जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, बौद्धों §तांत्रिक सिद्धों§ ने अपनी प्रज्ञोपाय साधना के अन्तर्गत लौकिक काम सम्बन्धों का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया था । यद्यपि इस वामसाधना को वे शाब्दिक बाना ऐसा पहनाते थे कि वह लौकिक न होकर अलौकिक साधना लगे । किन्तु जैसा कि अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है, बौद्ध तांत्रिकों के साधक तथा साधिका सामान्य नर-नारी हुआ करते थे । यह साधना समाज से दूर प्रायः जंगलों पर्वतों पर हुआ करती थी । साधक - साधिका जिन्हें

प्रज्ञा उपाय या करुणा - उपाय का नाम दिया जाता था वे प्रायः लौकिक रति सम्बन्धों का ही व्यवहार करते थे, जिसे वे सहज साधना नाम देते थे। राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय में राधा कृष्ण के बीच जो सहज सम्बन्ध है, वह बौद्धों की सहज साधना से काफी कुछ मिलता-जुलता है। जहाँ बौद्ध तांत्रिक कहता है -

"जोगिनि तोहि बिनु क्षणहुँ न जीयौं,
तव-मुख चूमि कमल रस पीयौं।[1] (गुण्डरीपा)

वहीं राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित कवि व्यासजी लिखते हैं -

"प्रथम अलिंगन - चुंबन करि, अधरन की सुधा निचोर।
मनहुँ सरद - चन्द की मधु चातिक तृषित चकोर।।" (व्यासवाणी - 578)

"बौद्धों में सहजानन्द, जिसे हम साधारण शब्दों में ब्रह्मानन्द कह सकते हैं, स्त्री-पुरुष के सम्भोगानन्द के स्वरूप का है, जिसे प्रतीक रूप में कुलिश और कमल से व्यक्त किया गया है।"[2]

तियड़ा चाँपि जोगिनि दे अंकवारी।
कमल-कुलिश घाँटि करहु बियाली।। (गुण्डरीपाठ)

सिद्धों की समरसता का सिद्धान्त हित सम्प्रदाय में राधाकृष्ण के निकुंज लीला वर्णनों में सर्वत्र देखा जा सकता है -

आज बन क्रीड़त श्याम-श्याम।
सुभग बनी निशि शरद चाँदनी रुचिर कुन्ज अभिराम।।
खण्डन अधर करत परिरम्भन, ऐंचत जघन दुकूल।
उर नखपात, तिरछी चितवनि, दम्पति रस समतूल।।

1- चर्या गीत - 4, गुण्डरीपा (राहुल सांकृत्यायन हिन्दी काव्यधारा)
2- डॉ0 मिथिलेश कान्ति, हिन्दी भक्ति श्रृंगार का स्वरूप - पृ0 13 पर

वे भुज पीन पयोधर परसत, बाम दृगा पिय हार ।
बसननि पीक अलक आकर्षत, समर श्रमित सत मार ।।
पल-पल प्रबल चौंप रस लंपट अति सुन्दर सु कुमार ।
वै श्री हित हरिवंश आजु तृण टूटत हौं बलि विशद विहार ।।

(हित चौरासी, 38)

अथवा -

मिलि बिछुरी न "ब्यास" की स्वामिनी,
ज्यों घ छांड मिलि बिपसौं ।

भक्ति जब रागसाधना के रूप में स्थापित हुई तत्पश्चात् कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा कृष्ण-राधा के केलि वर्णन को इन भक्तों ने अपना प्रिय विषय बनाया । युगल स्वरूप के वर्णन में इन कवियों ने मर्यादा, सामाजिक सम्बन्ध, कर्तव्य तथा विधि निषेधों के उल्लंघन को भी उचित ठहराया। प्रेमाभक्ति के इस रूप में प्रकट होने पर प्रायः सभी भक्त कवियों ने कृष्ण राधा के रति प्रसंगों का वर्णन बड़े खुले रूप में किया। राधावल्लभीय सम्प्रदाय के भक्त कवि की ये पंक्तियाँ उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत हैं -

स्याम काम बस चोली खोलत,
आतुर निसि के भौरे ।
डाँडी छांडि करत परिरम्भण,
चुंबन देत निहोरे ।
नैननि बरजति पियहिं किसोरी,
दे कुच कोर अकोरे ।

"प्रेम सिद्धान्त की स्थापना में हित हरिवंशजी ने किसी लौकिक वैदिक मर्यादा का आश्रय नहीं लिया है, उनका प्रेम नैसर्गिक रूप से जिस दिशा में प्रवाहित होता है, उसे लोक या शास्त्र की सीमाएँ बाँध नहीं सकतीं[1] -

---

1- डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य - पृ० 31।

प्रीति न काहू की कानि बिचारै ।
मारग अपमारग विथकित मन को अनुसरत निवारै ।।
ज्यौं सरिता सावन जल उमगत सनमुख सिन्धु सिधारै ।
ज्यौं नादहिं मन दिए कुरंगनि प्रकट पारधी मारै ।।
हित हरिवंश हिलग सारंग ज्यौं शलभ शरीरहि जारै ।
नाइक निपुन नवल मोहन बिनु कौन अपनपौ हारै ।।
।हित चौरासी - पृ0 42।

राधावल्लभीय युगल साधना पर बौद्धधर्म के प्रभाव की बात को डॉ0 हरवंशलाल शर्मा स्वीकारते हुए लिखते हैं - "युगल उपासना पर सहज मत का भी पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है । इसका ज्ञान हमें बंगाल के सहजिया सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से हो सकता है, जिसके अनुसार चौरासी कोस का ब्रजमंडल स्त्री के चौरासी अंगुल के शरीर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और ब्रज की पंचकोशी पंचांगुल परिमित अंग विशेष हैं ।[1] राधावल्लभीय सम्प्रदाय में श्रृंगार का जिस रूप में वर्णन मिलता है उसमें मर्यादाओं के लिए अवकाश नहीं । मर्यादाओं को तो इस रस-सम्प्रदाय में बाधक माना गया है । निकुन्ज में हो रही नित्य प्रेम लीलाओं का वर्णन भक्त का एक मात्र ध्येय प्रतीत होता है -

नवल-नवल सुख चैन रैन आपने आपु बस ।
निगम लोक मर्यादा भंजि क्रीडत रस रंग ।।
सुरत प्रसंग निशंक कर जोइ जोइ भावत मन ।
ललित अंग चलि भंग भाइ लज्जित सुकोकगन ।।
अद्भुत बिहार हरिवंश हित निरखि दास सेवत जियत ।
विस्तरित सुनत गावत रसिक सु नित-नित लीला रस पियत ।।[2]

1- सूर और उनका साहित्य - पृ0 269
2- सेवकवाणी - सप्तम प्रकरण ।

"तत्सुखसुखित्व" ॥अर्थात् प्रिय के सुख में सुखी होना॥ एक ऐसा भाव है जहाँ दो की रुचि, मन प्राण में परस्पर अभिन्नता हो जाए । राधावल्लभ ॥प्रिया-प्रियतम॥ में यह स्वभावतः ही है । श्री हित हरिवंशजी ने प्रिया-प्रियतम की इस एकात्मता का वर्णन हित चौरासी के प्रथम पद में ही किया है -

जोई - जोई प्यारो करे, सोई मोहि भावे
भावे मोहि जोई सोई - सोई करें प्यारे
मोकों तो भावती ठौर प्यारे के नैननि के तारे
मेरे तन मन प्राण प्रीतम हू तें प्रिय
अपने कोटिक प्राण प्रीतम मोसों हारे
जै श्री हित हरिवंश हंस-हंसनी सावल गौर
कहो कौन करे जल तरंगनि न्यारे ।

जैसा कि हम जानते हैं राधावल्लभ सम्प्रदाय रागमार्गी भक्ति का पोषक है और इसके अन्तर्गत प्रेम अथवा हित तत्त्व को ही प्रधानता दी गई है । इसमें परम सुख की कल्पना नित्य विहार के रूप में की गई । इस नित्य विहार के प्रधान अंग है राधा कृष्ण, सहचरी तथा वृन्दावन । यहाँ पृथकत्व सम्भव नहीं । ध्रुवदास प्रेमावली लीला में इसी भाव को व्यक्त करते हैं -

रूप बेलि प्यारी बनी, प्रीतम प्रेम तमाल ।
द्वै मन मिलि एकै भये, श्रीराधावल्लभ लाल ।।

बौद्धों का युगनद्ध सिद्धान्त उपर्युक्त नित्य-विहार एवं युगल स्वरूप का पर्याय ही दृष्टिगोचर होता है । श्रृंगार का यह उदाहरण भी देखिए -

चंचल रसिक मधुप मोहन राखे
कनक कमल कुच कोरी ।।
प्रीतम नैन जुगल खंजन खग,
बांधे विविध निबन्धन डोरी ।।
अवनी उदर नाभि सरसी में ।
मनो कछुक मोदिक मधु चोरी ।।
॥हित हरिवंश पिवत सुन्दर वर ।
सींव सुदृढ निगमन की तोरी ।। ॥हित चौरासी पद सं0 82॥

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, रस मार्ग का अनुगमन करने वालों को विधि निषेध से ऊपर ठहराया गया । इसलिए भले ही इस रागसाधना के मार्ग को कोई अधर्म कहे पर उन्हें (रागमार्गी भक्तों को) तो इसी मार्ग पर चलना कल्याणप्रद लगता है । इसी भाव को स्पष्ट करते हुए ही व्यासजी कहते हैं -

जासो लोग अधर्म कहत हैं सोई धर्म है मेरो ।
लोग दाहिने मारग लाग्यौ हौंव चलत हौं डेरो ।। (व्यासवाणी पद 128)

(सामान्य जन (गृहस्थ जन) जिसे अधर्म कहते हैं वही मेरा धर्म है) ध्यातव्य यह है कि दाहिने मार्ग का अर्थ होता है सीधा मार्ग अथवा वैदिक मार्ग और बायें का अर्थ होता है इसके (दायें के) विपरीत मार्ग । इस बायें मार्ग को दायें मार्ग के अनुयायी अधर्म कहते आए हैं । इससे स्पष्ट है कि व्यासजी की रूचि वाम मार्ग में रही होगी । जो दाहिना मार्ग है वह वैदिक धर्म है जो कि नीति नियमों को मानता है और जो सामूहिक हित को प्राथमिकता देता है, इसके विपरीत सामूहिक हितों की उपेक्षा करके मनमाने ढंग से या लोकवेद के विपरीत आचरण अपना कर वैयक्तिक सुख या वैयक्तिक उद्धार की बातें करता है वह वाम मार्ग है, और यही इन लोगों ने अपनाया । इन्होंने अपने मार्ग को सरल सहज बताया जो साम्प्रदायिक आग्रह है । परम्परा से सीधा मार्ग का अर्थ है वैदिक परम्परा का अनुसरण और वाम मार्ग का अर्थ है तांत्रिक मार्ग का अनुसरण । दूसरे शब्दों में दाहिने मार्ग से तात्पर्य वैदिक व बायें मार्ग का अर्थ अवैदिक हो सकता है । इस वाम-मार्ग का समर्थन बौद्ध तांत्रिकों में हुआ है । वाम मार्ग का प्रयोग तांत्रिकों की प्रज्ञोपाय साधना के सन्दर्भ में हुआ । इस वाम-मार्ग को ही इन्होंने सीधा, सरल व सहज बताया है । इस मार्ग को ये राग मार्ग भी कहते हैं -

नाद न बिन्दु न रवि-शशि-मण्डल ।
चित्ता राग स्वभावे मुंचल ।।
ऋजु रे ऋजु छाड़ि ना लेहु बंक ।
नियरे बोधि ज जाहु रे लंक ।।
हाथेइ कंकण ना लेहु दर्पण अपने आपा बूझहु रे मन ।।

पारे-वारे सोई सादई । दुर्जन-संगे अवसर जाई ।।
वाम दहिन जो खाल विखाला, सरह भने बांप ऋजु बाटे भइला ।।3।।
(सरहपा - सहजमार्ग)

तात्पर्य यह है कि बौद्धों ने जिसे ऋजु मार्ग अथवा सरल मार्ग कहा वह मध्यकालीन कृष्ण भक्ति में प्रयुक्त रागमार्ग है जो दाहिने मार्ग (वैदिक) के विपरीत वाम मार्ग है । जहाँ वैदिक विधि निषेध, सामाजिक आचार संहिता लागू नहीं होती । यह तो सीधा सहज मार्ग है । जो सीधे आराध्य का सामीप्य करवाता है । इस रागसाधना के मार्ग का ही व्यासजी अपने पद में इस प्रकार समर्थन करते हैं -

राधावल्लभ ध्याइके और ध्याइये कौन ।
व्यासहि टेत बने नहीं बरी-बरी प्रति लौन ।।
व्यासहि अब जनि जानियो लोक वेद को दास ।
राधावल्लभ उर बसे और न ते जु उदास ।।

तभी तो वे कहते हैं - "रसिक अनन्य हमारी जाति" - और अपनी इसी "रसिक जाति" के आधार पर राधावल्लभीय सम्प्रदाय के भक्ति काव्य में श्रृंगार के संयोग पक्ष का ऐसा वर्णन हुआ जिसमें न मर्यादा के लिए अवकाश है न विधि-निषेधों का बन्धन । यह राग साधना अनायास ही बौद्धों के रागमार्ग का स्मरण कराती है । उन्होंने ही प्रज्ञोपाय साधना में सामाजिक सारे नियम-बन्धन त्याज्य बताए । विपरीत रति का यह उदाहरण "हित सम्प्रदाय" की राग साधना का स्पष्ट द्योतक है -

कुंवरि कुंदर को रूप भेषधरि नागर पियपहं आई ।
प्यारिहि हरिन मिले सकुची जिय उपजी तब इक बुद्धि उठाई ।।
हौं वृन्दावन चन्द छबीलो राधापति सुखदाई ।
तू को प्रिया-प्रिया कह टेरत तजि वन भूमि पराई ।।

यहाँ राधा का कृष्ण-वेश धारण करना (प्रज्ञा (स्त्री) का उपाय (पुरुष) व उपाय का प्रज्ञा रूप में प्रस्तुत होना हम बौद्धों में देख चुके हैं ।) विपरीत

श्रृंगार के अन्तर्गत आता है । राधावल्लभ सम्प्रदाय की यह निजि विशेषता है कि यहाँ श्रृंगार के संयोग पक्ष का ही वर्णन किया गया है क्योंकि इनके अनुसार तो -

कुंज केलि मीठी है, विरह भक्ति सीठी ज्यौं आग ।
व्यास विलास रासरस पीवत मिटे हृदय के दाग ।। ।व्यासवाणी - 8।।

इस प्रकार राधाकृष्ण के सहज स्नेह में मात्र संयोग की ही लीलाएं हैं । अतः राधावल्लभ के प्रेमातिशय का वर्णन भक्तों द्वारा अनेक बार किया गया है । अभिसार, मिलन, शय्या, विहार, विपरीत रति, सुरत आदि का वर्णन यत्र तत्र मिल जाता है, जो कि रागानुगा भक्ति के अंग माने गए हैं । कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं -

राधा माधव सहज स्नेह ।
सहज रूप गुन सहज लाडिले, एक प्रान द्वै देही ।।
सहज माधुरी अंग-अंग प्रति सहज रही बन गेही ।
"व्यास" सहज जोरी सौं मन मेरे, सहज प्रीति कर लेही ।।

और यह उदाहरण देखिए जो अमर्यादित श्रृंगार का सांगोपांग चित्र उपस्थित करता है -

क्रीडत कुंज कुटीर किसोर ।
कुसुम पुंज रचि सेज हेज मिलि बिछुर न जानत भोर ।।
स्याम काम बस तोरि कंचुकी करजनि गहि कुच कोर ।
स्यामा हुंच मुंच कह, खंडित गंड अधर की ओर ।।
नागर नीवी बन्धन मोचत चरन गहि करत निहोर ।
नागर नेति नेति कहि करसौं कर पेलत गहि डोर ।।
मत्त मिथुन मैथुन दोऊ प्रकटत वरवट जोवन जोर ।
व्यास स्वामिनी की छवि निरखति भये सखि लोचन चोर ।।

भावसाम्य के लिए बौद्ध सिद्धों का यह पद देखिए -

"चित्त ताँबूला महासुख कपूर खाई ।
शून्य-नैरात्मा कंठे लेई महासुखे राति बिताई ।।" ।शबरपा चर्यापद।

सारांश :

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बौद्ध तांत्रिक साधकों ने प्रज्ञा व उपाय अथवा करूणा तथा शून्य आदि प्रतीकों के आधार पर लौकिक नर नारी के काम सम्बन्धों का ही वर्णन किया । लगभग वही बात मध्यकालीन कृष्णभक्ति सम्प्रदायों में राधा व कृष्ण अथवा कृष्ण व गोपियों का नामाश्रय लेकर नर-नारी के सामान्य।लौकिक। काम सम्बन्धों को ही उजागर किया । यथा -

कुच युग पर नख रेख प्रकट मानों शंकर शिर शशि टोल ।
जै श्री हित हरिवंश कहत कछु भामिनि अति आलस सों बोल ।।[1]

एक उदाहरण और देखिए -

आजु पिय के संग जागी रात ।
दुरति न चोरी कुँअरि किसोरी, चीन्हे परस गात ।।
पुलकित कंपित गातनि संकित, बात कहत तुतरात ।
जावक पीक मखी रँग रँजित, सारी स्वेत चुचात ।।
× × × × × × ×
कहा - कहा रति बरनौं वैभव, फूली अंग न भात ।
वेगि देखाउ बहुरि वह कौतिक, व्यास दास अकुलात ।।[2] ।व्यास - 318।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन रसिक सम्प्रदायों ने इन राग-सम्बन्धों को राधाकृष्ण की नित्यवृन्दावन में होने वाली अलौकिक लीला मान कर वर्णन किया है । जिसके मनन व ध्यान करने मात्र से भक्त ब्रह्मरस को पा लेता है । उनका मानना है

1- डॉ० मिथिलेश कान्ति, हिन्दी भक्ति श्रृंगार का स्वरूप - पृ० 148
2- डॉ० मिथिलेश कान्ति, हिन्दी भक्ति श्रृंगार का स्वरूप - पृ० 178

कि इस लीला को मात्र रसिक जन ही समझ सकते हैं क्योंकि साधारण व्यक्ति के लिए तो वह मात्र लौकिक काम वर्णन है । राधा के साथ कृष्ण की विभिन्न प्रेमलीलाओं का यशोगान करना तथा प्रेमोपासना को श्रेष्ठ बतलाना इनका प्रमुख ध्येय था । जैसा कि डॉ० रतिभानु लिखते हैं - "राधा वल्लभीय वाले जो राधा-कृष्ण प्रेमोपासना को पराकाष्ठा पर पहुँचाने की चेष्टा कर रहे थे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि रसिकों की बातें रसिक ही समझ सकते हैं । या लाखों में कोई एक ही समझ सकता है । x x x x x ऐसे कथनों का अर्थ स्वतः ही खुला हुआ है । लौकिक चित्रणों से अलौकिकता की झाँकी दिखाने वाले अपनी दुर्बलता खूब समझते थे और उन्हें सदा इस बात का भय बना रहता था कि यदि इस पर पेंचीदी या रहस्य या कुछ विचित्र पारिभाषिक शब्दावलियों का या फिर पेंचीदी व्याख्याओं का जमघट नहीं एकत्र कर दिया जायेगा तो मैथुन, सम्भोग, रति, काम, योनि, लिंग आदि ग्राह्य नहीं हो सकेंगे । परिणामस्वरूप तांत्रिकों ने तो, जैसा कि हम देख चुके हैं मानव शरीर के ही अनेक कल्पित अंगों की कल्पना कर ली पर नैतिकता एवं सदाचार की सुदृढ़ नींव पर खड़ा होने वाला वैष्णव धर्म किसी भी प्रभाव से अपनी संचित थाती न छोड़ सका । उसने ऐसी दशा में राधा-कृष्ण या राम सीता की कामकलाओं को भगवत लीला के महाजाल में कुछ ऐसा लपेट दिया और उस पर आध्यात्मिकता की इतनी गहरी छाप लगा दी कि इनके काम-रस ने भी भक्तिरस का रूप ग्रहण कर लिया ।"[1] पूर्वी भारत के प्रसिद्ध भक्त कवि जयदेव, जो कि सहजिया वैष्णव (बौद्ध सहजियाओं के अवशेष) परम्परा में आते हैं, उनका प्रभाव राधावल्लभीय सम्प्रदाय में स्पष्ट परिलक्षित होता है । इस सम्प्रदाय के भक्त कवि व्यासजी की "वाणी" में जयदेव का गुणगान देखिए -

> श्री जयदेव से रसिक न कोई,
> जिन लीला रस गायो
> पतित परो मुख निसरत ही राधा माधव कौ दरसन पायो ।

1- भक्ति आन्दोलन का एक अध्याय - पृष्ठ 220

जयदेव को भक्त व्यास आदित रसिक स्वीकारते हैं । व्यासजी का मानना है कि जयदेव का जन्म ही राधाकृष्ण के युगल स्वरूप ।लीला विलास। का गान करके जीवों के उद्धार हेतु हुआ था । जयदेव को इसी माधुर्य उपासना के फलस्वरूप भगवद् साक्षात्कार हुआ । वृन्दावन में "कृष्ण-राधा केलि" का सरस गान करने का श्रेय सर्वप्रथम जयदेव को प्राप्त है और उन्हें से प्राप्त इस मधुर रस का अन्य लोगों ने आस्वादन किया । राधा के चरणों की उपासना कर उन्होंने कृष्ण को प्रसन्न किया था एवं सब की आशा छोड़कर श्याम सुंदर को कुंजों में बुला लिया था -

वृन्दावन को रसमय वैभव, जिनने पहिलैंसबनि सुनायौ,
ता पाछै औरन कछुपायौ, औरस सबनि चखायौ ।
पदमावति चरनन कौ चारन, जिहि गोविन्द रिझायौ,
"व्यास" न आस करी काहू की कुंजन स्याम बुलायौ ।।

इन मान्यताओं को व्यासजी ने भी अपनाया था । हित ।हिरिवंशजी के राधावल्लभीय सम्प्रदाय की साधना में श्री जयदेव के गीत गोविन्द के अन्तर्गत काव्य में वर्णित मान्यताओं का समावेश पाया जाता है । अतएव व्यासवाणी में जो विचार-धारा प्रकट होती है वह राधावल्लभीय सम्प्रदाय में भी समान रूप से पायी जाती है ।[1]

इसी प्रकार पूर्वी भारत के ही चैतन्य महाप्रभु तथा उनके सम्प्रदाय के भक्त कवियों का प्रभाव राधावल्लभीय सम्प्रदाय पर आसानी से देखा जा सकता है । इस सम्प्रदाय द्वारा पूर्वी भक्त गणों का यशोगान यह बात स्पष्ट करता है कि उत्तरी भारत तथा पूर्वी भारत की कृष्ण-भक्ति काव्य परम्परा का पारस्परिक गहरा सम्बन्ध था । बंगाल का परकीया भाव तो प्राय: उत्तरभारतीय कृष्णभक्ति काव्य में आसानी से गृहीत कर लिया गया कदाचित यही कारण है कि कृष्णभक्ति के रसिक सम्प्रदायों, राधावल्लभीय, हरिदासी आदि में वर्णित कृष्ण-राधा केलि विलास व पूर्वी प्रदेशों के भक्तों के काव्यों में वर्णित राधा-माधव केलि क्रीडाओं में गहरा साम्य दिखायी देता है । पूर्वी क्षेत्रों की भक्ति से

1- श्री प्रभुदयाल मीतल : भक्त कवि व्यासजी - पृष्ठ 129

उत्तरी भारत का भक्ति भाव प्रभावित रहा, इस बात के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं । "चैतन्य सम्प्रदायी साधुओं का नामस्मरण व्यासजी ने बड़े आदर से किया है । उन्होंने "रूप" व "सनातन" की स्तुति श्रद्धापूर्वक की है । उन दोनों भाइयों के निधन पर कहे गए उनके विरह के पद, कृष्ण चैतन्य के लिए "करुणा सिन्धु" विशेषण का प्रयोग तथा उनके बिना अपने को अनाथ हो जाने का कथन किया गया है । उनकी कुंजकेलि की प्रधान उपासना का संकेत विरह के इस पद में भी है[1] -

साधु सिरोमनि रूप सनातन ।
जिनकी भक्ति एक रस निबहि प्रति कृष्ण-राधा तन ।।
करुणासिन्धु कृष्ण-चैतन्य की कृपा फली दुहुँ भ्रातन ।
तिन बिनु "व्यास" अनाथ भये, अब सेवत सूखे पातन ।।

डॉ0 विश्म्भरनाथ उपाध्याय का मानना है कि "तांत्रिक बौद्ध मत से प्रभावित बंगाली वैष्णवों ने वल्लभ, हरिदासी, हितहरिवंश आदि की विचारधारा और साधना पद्धति को दूर तक प्रभावित किया ।[2]

इस प्रकार अन्तर्बाह्य प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि ब्रज (भाषा एवं क्षेत्र) की मध्यकालीन कृष्णभक्ति (एवं भक्ति साहित्य) को पूर्वी क्षेत्रों - विशेषतः उड़ीसा एवं बंगाल के बौद्ध-भग्नावेश सम्प्रदायों (या भक्ति साधकों) ने न केवल दूर तक प्रभावित किया है, अपितु उसका मूल स्त्रोत भी वे ही हैं ।

1- श्री प्रभुदयाल मीतल : भक्त कवि व्यासजी - पृष्ठ 134

2- मध्यकालीन हिन्दी काव्य की तांत्रिक पृष्ठभूमि - पृ0 149